Chap-1

प्रथम अध्याय :

पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) की धार्मिक पृष्ठभूमि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में वि.सं. १३७५ से १७०० तक के समय को 'भक्तिकाल' के नाम से जाना जाता है। भक्तिकाल के अंतर्गत भी अनेक धाराएँ हैं –

- भक्तिकाल
  - निर्गुणधारा
    - प्रेममार्गी शाखा
    - ज्ञानमार्गी शाखा
  - सगुणधारा
    - राममार्गी शाखा
    - कृष्णमार्गी शाखा

यहाँ मैं सगुण धारा की कृष्णमार्गी शाखा के भीतर रहे वैष्णव सम्प्रदायों का अध्ययन और मुख्य रुप से अपने शोध के विषय पुष्टिमार्ग पर भी अपना मंतव्य प्रस्तुत करुंगी।

आदिकाल से ही मानव स्वभाव भक्तिमय प्रकृति का रहा है। वेदकालीन मानव प्रकृत्ति के अनेक देवी – देवताओं का आवाहन करता हुआ दिखाई देता है। यही देवी – देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक भी हैं।[1] ''वेदों के बाद उपनिषद युग में मानव का ध्यान प्राकृतिक शक्तियों से अधिक उस परम शक्ति परब्रह्म की और उन्मुख हुआ, जिसे हम त्रिदेव के रुप में जानते हैं – ब्रह्मा, विष्णु और महेश। इसी कारण कालान्तर में अनेक देवी–देवता, मतवाद विकसित हुए। भारतीय संस्कृति में हमें मनुष्य के अन्तः और बाह्य दो रुपों का वर्णन मिलता है, जिसे क्रमशः लौकिक और अलौकिक अर्थात् आत्मा और परमात्मा के रुप में जानते हैं। उसी परब्रह्म परमात्मा की खोज के लिए मानव ने धर्म का सहारा लिया है।''[2]

दसवीं शताब्दी में भारतीय समाज़ अनेक धर्मों का अखाड़ा बन गया था। वैदिक और पौराणिक धर्म की मान्यता तो ज्यों की त्यों बनी हुई थी, बौद्ध और जैन धर्म की अनेक विकृत शाखाएँ भी चल पड़ी थी। आचार हीनता, तन्त्र–मन्त्र तथा जादू–टोने की भावना आदि ने धर्म को ग्रस लिया था। शैवों, शाक्तों और वैष्णवों के अपने–अपने पंथ थे। धर्म में आडम्बर का बोलबाला था। नाथ पंथियों में अभी भी संयम, सदाचार और योग की प्रधानता थी। दूसरी और मुसलमान शासक विजेता बन कर अपने धर्म का प्रचार–प्रसार बड़ी कठोरता से कर रहे थे। लेकिन हिन्दुओं में अपने धर्म के प्रति दृढ़ आस्था थी। इसी कारण वे मुसलमानों के अत्याचारों से विचलित नहीं हुए।

उपरोक्त परिस्थिति से अनुमान लगाया जा सकता है कि सामान्य जनता की धर्म भावना दबती जा रही थी। इसी कारण सामान्य जनता ने अपने उद्धार के लिए भगवान की शरण लेना ही उपयुक्त समझा।

भारत वर्ष में धर्म की साधना के मुख्य तीन मार्ग है – कर्म, ज्ञान और भक्ति। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांग सा हो जाता है; कर्म के बिना लूला – लँगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदयविहीन या निष्प्राण–सा लगता है। ज्ञान के अधिकारी गण तो सामान्य से बहुत अधिक समृद्ध व विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं, किन्तु कर्म और भक्ति ही सारे जन समुदाय की सम्पति होते हैं। इनमें से कभी ज्ञान की प्रधानता थी, कभी कर्म की तो कभी भक्ति मार्ग की प्रधानता रही है। इन तीनों का मूल उद्‌गम या स्रोत्र वेद है। किन्तु कालान्तर में कर्म मार्ग का विकास रुक–सा गया और ज्ञानमार्गियों ने अपनी वाणी में गूढ़ रहस्यदर्शिता की धाक जमाने की कोशिश की थी। सामान्य अशिक्षित या अर्द्ध शिक्षित जनता पर इनकी वाणियों का प्रभाव कुछ ऐसा हुआ कि वे सच्चे और अच्छे शुभ कर्मों के मार्ग को छोड़कर तंत्र–मंत्र आदि के चक्करों में फँस गए। इसी दशा का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी ने कहा था – 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।' ऊपर जिस अवस्था का वर्णन हुआ है वह सामान्य जन समुदाय की थी। शास्त्रज्ञ

विद्वानों पर तो सिद्धों और जोगियों की वाणियों का कोई असर न था, वे अपना कार्य करते जा रहे थे। पंडितों के शास्त्रार्थ भी होते थे और दार्शनिक खण्डन–मण्डन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे। उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्यों की परम्परा भी विद्वान मंडलियों के भीतर चल रही थी। जिससे आगे चल कर परम्परागत भक्ति मार्ग के सिद्धांत पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ। दूसरी ओर कविगण राज–दरबारों के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र हृदय से भक्ति के शुद्ध एवं उन्मुक्त प्रभाव को उजागर कर रहे थे।

ईसा की आठवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अवैदिक सम्प्रदायों का प्रचार होने से वैदिक धर्म की लोकप्रियता बराबर कम होती जा रही थी। इसके परिणामस्वरुप वैदिक संस्कृति और वेदानुकूल कर्म–मार्ग और ज्ञान–मार्ग की प्राचीन परम्पराएँ समाप्त सी हो गई। इस स्थिति में वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के भगीरथ प्रयत्न में जिन महान विद्वानों ने अपना सर्वाधिक योगदान दिया था उनमें कुमारिल भट्टाचार्य और शंकराचार्य के नाम प्रसिद्ध हैं। इन दोनों प्रतिभाशाली विद्वानों ने प्राचीन वैदिक धर्म के ध्वंसावशेषों पर ही सुदृढ़ हिन्दु धर्म की नींव रखी। कुमारिल भट्टाचार्य ने वेदोक्त कर्म–मार्ग की और शंकराचार्य ने वेदोक्त ज्ञान–मार्ग की पुनः स्थापना की। तथापि इन दोनों के सिद्धान्तों में भेद था. किन्तु दोनों का उद्देश्य समान रूप से लुप्त हुए वैदिक हिन्दु धर्म की पुनः स्थापना करना था।

इस काल में भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल हुआ कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू ही नहीं, देश में रहनेवाले सहृदय मुसलमान भी आ गए। प्रेमस्वरुप ईश्वर को सामने रख कर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए एक सामान्य व सरल भक्ति मार्ग की धारा का विकास किया। प्राचीन वैदिक और भागवत धर्मों का स्थान श्रुति–स्मृति पुराण प्रतिपादित वैष्णव धर्म ने ग्रहण किया था। शैव–शाक्तादि के अनुयायिओं की संख्या भी बढ़ रही थी। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत राम और कृष्ण की उपासना व प्रचार–प्रसार का सूत्रपात हो रहा था। जिससे कालान्तर में कई नए धर्म सम्प्रदायों का उद्भव और विकास हुआ। ''वैष्णव धर्म का मूल तत्व भक्ति है, जिसे

विक्रम की ५ वीं शती से लेकर १२ वीं शती तक के काल में क्रमशः आलवारों और आचार्यों ने दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में बड़े विशद रुप में प्रचारित किया था।''[३] दक्षिण के आलवार भक्तों ने तमिल भाषा में ४००० गीत रचे जिन्हें 'दिव्य प्रबंधम्' अथवा 'नालारिय प्रबंधम्' के नाम से जाना जाता है। इन भक्तों में कई स्त्री प्रचारिकाएँ भी थीं। ''आलवार भक्तों के सिद्धान्त ही विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि रहे है।''[४]

यज्ञ पुराण के अनुसार भक्ति ने नारद जी को अपने जन्म और विकास की कथा बताते हुए कहा है –''मैं द्रविड़ प्रदेश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में कुछ काल तक स्थित रही, और फिर गुजरात में जाकर वृद्धा हुई हूँ।''[५] इसी प्रकार कबीरपंथी आदि अन्य संत सम्प्रदायों में यह प्रचलित है कि ''भक्ति मार्ग का जन्म दक्षिण के द्रविड़ प्रदेश में हुआ था, जहाँ से स्वामी रामानंद उसे उत्तर में लाये थे, फिर उनके कबीर आदि शिष्यों ने उसका विस्तृत प्रचार–प्रसार किया था।''[६] विद्वानों के अनुसार भक्ति के विकास का प्रथम चरण उत्तर भारत में वैदिक धर्म की पृष्ठभूमि से अंकुरित हुआ था जो नारायण अथवा वासुदेव की उपासना के रुप में हुआ था। भक्ति के विकास का दूसरा चरण दक्षिण से शुरु हुआ था जो वहाँ के आलवार भक्तों द्वारा अग्रसर किया गया था। उसी के बाद अन्य वैष्णव धर्माचार्यों ने अपने भक्ति सम्प्रदायों और दार्शनिक सिद्धान्तों को दक्षिण से उत्तर की ओर प्रचारित व प्रसारित किया। इस दूसरे चरण का प्रमुख ग्रंथ 'श्रीमद् भागवत महा पुराण' है, जो भक्ति का मूल स्त्रोत माना जाता है।

लगभग दसवीं शताब्दी तक आलवार भक्तों की परम्परा चलती रही थी उसके बाद वैष्णव आचार्यों का युग आरम्भ हुआ था। आलवारों और वैष्णव आचार्यों की भक्ति मार्ग सम्बन्धी जीवन धाराएँ कई बातों से अलग–अलग थीं। इन दोनों की तुलना करते हुए बलदेव उपाध्याय ने लिखा है ''आलवार तथा आचार्य दोनों ही विष्णु भक्ति के जीवंत प्रतिनिधि थे, परन्तु दोनों में एक पार्थक्य (भेद) है। आलवारों की भक्ति उस पावन सलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के समान है, जो स्वयं उद्वेलित होकर प्रखर गति से बहती जाती है, और जो कुछ सामने आता है उसे तुरंत बहा कर अलग फेंक देती है।

आचार्यों की भक्ति उस तरंगिणी के समान है, जो अपनी सत्ता जमाये रखने के लिए रुकावट डालने वाले विरोधी पदार्थों से लड़ती–झगड़ती आगे बढ़ती है। आलवारों के जीवन का एक मात्र आधार था प्रपति–विशुद्ध भक्ति; परंतु आचार्यों के जीवन का एक मात्र सार था भक्ति तथा कर्म का मंजुल समन्वय। आलवार शास्त्र के निष्णात विद्वान न होकर भक्ति रस से सिक्त थे। आचार्य वेदांत के पारंगत विद्वान ही न थे, प्रत्युत् तर्क और युक्ति के सहारे प्रतिपक्षियों के मुखमुद्रण करने वाले पंडित थे। आलवारों में हृदयपक्ष की प्रबलता थी, तो आचार्यों में बुद्धिपक्ष की दृढ़ता थी।''[७]

आलवार भक्तों के अलावा दक्षिण भारत में कुछ ऐसे आचार्य हुए जो विष्णु भक्ति को उत्तरी भारत तक ले गए। इन्होंने आलवार भक्तों के प्रबन्धम् से प्रेरणा लेकर वेद, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के आधार पर प्रमाण भी प्रस्ततु किए। इनमें प्रथम आचार्य नाथमुनि थे, विद्वानों ने जिनका समय सन् ८२४ ई. से सन् ९२४ ई. तक का बताया जाता है। इनके पूर्वज उत्तरी भारत में भागवत् धर्मावलम्बी वैष्णव थे। नाथमुनि के बाद पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र तथा यमुनाचार्य हुए; जिन्होंने इस वैष्णव धर्म को आगे बढ़ाया। यमुनाचार्य नाथमुनि के पौत्र थे। इन्होंने ही रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद की नींव डाली थी। उत्तरी भारत में विष्णु भक्ति की अधिक प्रबलता ईसा की १५ वीं और १६ वीं शती में हुई थी। अब मैं वैदिक धर्म की पुनःस्थापना करनेवाले दो महान आचार्यों का संक्षिप्त परिचय देना चाहती हूँ –

कुमारिल भट्टाचार्य :

इनके वास्तविक समय तथा जीवन वृतांत के प्रमाण अप्राप्य हैं। विद्वानों के मतानुसार इनका समय ८ वीं शती का माना गया है। इन्होंने श्रीनिकेत नाम के बौद्ध विद्वान से शिक्षा ग्रहण की थी; और बाद में अपने वेदोक्त कर्म मार्ग की श्रेष्ठता प्रमाणित की थी। इनका सिद्धांत मीमांसादर्शन पर आधारित है, अतः इन्हें 'मीमांसक' भी कहा गया है। मीमांसादर्शन में वेद को प्रमाण माना गया है। कुमारिल भट्टाचार्य ने अपने समय में ही

अनेक बौद्धाचार्यों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया था तथा अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। इनके शिष्यों में मंड़न मिश्र का नाम उल्लेखनीय है, जिनका बाद में शंकराचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था।

शंकराचार्यः

इनके यथार्थ काल के सम्बंध में अनेक मतभेद हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान इनका समय ९ वीं शती मानते हैं। ये केरल प्रदेश के थे। अपनी बाल्यावस्था से ही शंकराचार्य काफी प्रतिभा सम्पन्न थे। विविध वेदोक्त की विद्या प्राप्त कर इन्होंने अपने ज्ञान मार्ग का प्रचार समस्त भारत भर में किया था। अपनी भारत देश की यात्राओं में इन्होंने अनेक धर्मावलम्बी विद्वानों को शास्त्रार्थ कर परास्त किया था। शंकराचार्य की ये यात्राएँ 'शंकर दिग्विजय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारत देश को धार्मिक एकता के सूत्र में बाँधने के लिए शंकराचार्य ने अनेक मठों का निर्माण करवाया था जिनके अध्यक्ष इनके प्रमुख शिष्य थे। शंकराचार्य ने मुख्य रुप से ब्रह्म सूत्र, उपनिषद और गीता पर भाष्यों की रचना की थी। इन तीनों ग्रंथों को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं, जिस पर शंकर सिद्धान्त की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ है।

शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त में केवल ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया है। शंकराचार्य के मतानुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है इसके अलावा यह जगत् आदि सब कुछ असत् अर्थात् माया है; इन्होंने ब्रह्म को निर्गुण कहा है, किन्तु माया के कारण सगुण–सा भाषित होने वाला माना है। इनके मत को 'केवलाद्वैतवाद' अथवा 'अद्वैतवाद' कहा जाता है। विद्वानों के मतानुसार वर्तमान वैदिक हिन्दु धर्म की सचोट नींव शंकराचार्य ने डाली थी; कुमारिल भट्टाचार्य द्वारा आरम्भ किए गए कार्य को शंकराचार्य ने बहुत कुछ आगे तक बढ़ाया था।

उपरोक्त परिस्थिति को देखें तो आलवारों और अन्य वैष्णवाचार्यों के भक्ति मार्ग के लिए शंकर सिद्धांत में कोई स्थान नहीं था। इसी कारण वैष्णवाचार्यों ने अपने भक्ति मार्ग

के प्रचार हेतु शंकर मत का खण्डन किया था। वैसे विद्वानों के मतानुसार शंकराचार्य के काल में ही भक्ति मार्ग की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया था। इतना ही नहीं, शंकराचार्य ने श्रीकृष्ण की मूर्ति पूजा को भी स्वीकार किया था उन्हों ने कहा था कि – ''यदुनाथ श्रीकृष्ण को साकार मानने पर भी वे एकदेशीय नहीं हैं, बल्कि सर्वन्तर्यामी साक्षात् सच्चिदानंद स्वरुप परमात्मा हैं' –

''यद्यपि साकारोऽय तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाव्ययं सच्चिदानंदः ।।''[6]

शंकराचार्य के केवलाद्वैतवाद के विरुद्ध दक्षिण के चार प्रमुख धर्माचार्यों ने अद्वैत के अन्य रुप विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैतवाद की स्थापना की। इन सभी आचार्यों ने शंकर के वेदान्तवाद और मायावाद का खण्डन कर प्रेमभक्ति मार्ग का सरल व सुलभ प्रचार–प्रसार किया। इन वैष्णवाचार्यों ने अपने अलग–अलग धर्म सम्प्रदायों की स्थापना भी की, जो उपासना के क्षेत्र में तो भक्ति मार्ग को ही सर्वोपरि मानते हैं; किन्तु ब्रह्म और जीव अर्थात् परमात्मा और आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध में चारों में सैद्धान्तिक मतभेद हैं। इन चार मुख्य सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव तो दक्षिण भारत में हुआ था, किन्तु कालान्तर में वे उत्तर भारत में भी प्रचलित हो गए। इन चार सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

नाम	दार्शनिक सिद्धांत	प्रचलनकर्ता
श्री सम्प्रदाय	विशिष्टाद्वैतवाद	रामानुजाचार्य
रुद्र सम्प्रदाय	शुद्धाद्वैतवाद	विष्णुस्वामी
सनकादि सम्प्रदाय	द्वैताद्वैतवाद	निम्बार्काचार्य
ब्रह्म सम्प्रदाय	द्वैतवाद	मध्वाचार्य

१. प्रमुख वैष्णवाचार्यों का संक्षिप्त परिचय :-

१. रामानुजाजार्य ::

विद्वानों के मतानुसार वैष्णवाचार्य रामानुजाचार्य का जन्म वि. सं. १०७४ में दक्षिण भारत के पेरेम्बुपुरम् में हुआ था। रामानुजाचार्य बाल्य अवस्था से ही कुशाग्र बुद्धि के धनी थे। इन्होंने यादवप्रकाश नामक किसी विद्वान से वेदांत की शिक्षा प्राप्त की थी। रामानुजाचार्य का देहवास वि. सं. ११९४ में हुआ था। वे १२० वर्षों तक जीवित रहे थे। रामानुजाचार्य का सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैतवाद' के नाम से जाना जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना की थी, जो 'श्री भाष्य' के नाम से जाना जाता है। इसके अलावा रामानुजाचार्य ने गीताभाष्य, वेदान्त सार, वेदान्त दीप आदि कई अनेक ग्रंथों द्वारा अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

विशिष्ट का अभिप्राय चेतन–अचेतन विशिष्ट ब्रह्म से है, और अद्वैत का अभिप्राय अभेद अथवा एकत्व से। इस प्रकार चेतन–अचेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म के अभेद अथवा एकत्व के प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक सिद्धांत को 'विशिष्टाद्वैत' कहा गया है।[१] रामानुजाचार्य शंकराचार्य की तरह जगत् को मिथ्या एवं माया द्वारा उत्पन्न नहीं मानते, बल्कि जगत् को ब्रह्म का ही अंश मानते हैं और ईश्वर को इस जगत् में अन्तर्हित मानते हैं; जैसे – जीव और जगत् ब्रह्म का शरीर है, किन्तु ईश्वर इस शरीर की आत्मा है। जहाँ ब्रह्म विभू है, पूर्ण है, ईश्वर है; और जीव अणु है, खण्डित है, दास है। नारायण विष्णु ही सबके अधिष्ठाता देव हैं, वे ही सृष्टि के जन्मदाता, पालनकर्ता और संहारक हैं। वे ही चतुर्भूज स्वरूप (शंख–चक्र–गदा–पद्म) में बिराजमान हैं। भगवान की भक्ति दास्यभाव से करना जीव का परम कर्तव्य है। भक्ति के द्वारा ही जीव ने भगवान् को प्रसन्न कर अपने आपको उनके श्री चरणों में आत्म समर्पित कर देना चाहिए; तभी उसे मुक्ति की प्राप्ति होगी।

भक्तों में मान्यता है कि भगवान नारायण ने अपनी स्वरूपा शक्ति श्री महालक्ष्मी को श्री नारायण मंत्र की सर्व प्रथम दीक्षा दी थी। इसी कारण इसे श्री सम्प्रदाय कहते हैं। इस

सम्प्रदाय के उपास्य देव 'लक्ष्मी नारायण' हैं। इस सम्प्रदाय के शिष्य विरक्त और गृहस्थ दोनों प्रकार के होते हैं। इस सम्प्रदाय में अनेक साधु–महात्मा बराबर होते रहे हैं, जिनमें रामानंद जी का नाम सबसे ऊपर आता है, जिनका विवरण आगे के पृष्ठों में दिया जाएगा।

२. निम्बार्काचार्य ::

निम्बार्काचार्य का प्रामाणिक जीवन वृत्तांत अप्राप्य है। विद्वानों ने इनका समय लगभग ५ वीं से ११ वीं शती तक का माना है। निम्बार्काचार्य दक्षिण देश में गोदावरी नदी पर स्थित वैदुर्यपतन नामक स्थान के रहने वाले थे। ये तैलंग ब्राह्मण थे। डॉ. भण्डारकर ने इनका समय रामानुजाचार्य के बाद का माना है और इनका देहावसान काल सं. १२१९ के लगभग माना है। निम्बार्काचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं, जिन्हें 'वेदांत पारिजात सौरभ' कहते हैं। इसके अलावा सिद्धांत रत्न (दश श्लोकी), श्री कृष्ण स्तवराज आदि कई ग्रंथों की रचनाएँ की हैं।

निम्बार्काचार्य के दार्शनिक सिद्धांत को 'द्वैताद्वैतवाद' अथवा 'भेदा–भेद वाद' भी कहते हैं। निम्बार्काचार्य के भेदाभेद वाद की पृष्ठ भूमि भास्कराचार्य ने की थी। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर महत्वशाली भाष्य लिखा था। इनका समय ९ वीं शती माना गया है। ये रामानुज के पूर्ववर्ति थे, क्योंकी रामानुचार्य के श्री भाष्य में इनके नाम का उल्लेख मिलता है। इस सिद्धांत का आधार जीव और ब्रह्म का स्वाभाविक भेदा–भेद है; इसमें जीव को ब्रह्म से भिन्न माना है और अभिन्न (अर्थात् एक ही) भी माना है। जीव, ब्रह्म का ही अंश है, अतः वह सत्य है किन्तु जीव सत्य होने पर भी अपने ज्ञान और भोग के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। ब्रह्म और जीव के इस भेदा–भेद वाद को द्वैताद्वैत सिद्धांत का मूल तत्व माना जाता है। अर्थात् ब्रह्म, जीव और जगत एक ही हैं, और अलग–अलग भी । श्री कृष्ण ही परब्रह्म हैं और उनका श्रवण, मनन करना ही जीव का धर्म है, परम उद्देश्य है।

इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार स्वयं देवर्षि नारद ने निम्बार्काचार्य को गोपाल मंत्र की दीक्षा दी थी। इस सम्प्रदाय में निम्बार्काचार्य को भगवान के सुदर्शन चक्र का अवतार माना गया है। नारद जी को इस मंत्र की दीक्षा सनकादि ऋषियों से मिली थी।

इसी कारण इस सम्प्रदाय को 'सनकादि सम्प्रदाय' कहते हैं। इस सम्प्रदाय में 'राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप' की उपासना की जाती है। राधा की महत्ता को धार्मिक रूप से इसी सम्प्रदाय ने सर्व प्रथम स्वीकार किया था। इस सम्प्रदाय में राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप के रूप में शालीग्राम की सेवा–पूजा की जाती है। निम्बार्काचार्य की शिष्य परम्परा में श्री निवासाचार्य का नाम प्रमुख है। इनके अलावा देवाचार्य और श्री केशव काश्मीरी भट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं।

३. विष्णुस्वामी ::

यह तो निश्चित किया गया है कि विष्णु स्वामी एक प्राचीन आचार्य थे, किन्तु इनके यथार्थ समय को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। कुछ विद्वानों, जैसे डॉ. भण्डारकर, आर्थर वेनिस आदि ने विष्णुस्वामी को १३ वीं शती के लगभग माना है। इन विद्वानों का अनुमान है कि विष्णु स्वामी का समय रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य के पश्चात् और माधवाचार्य के पूर्व का हो सकता है। ऐसी किवदंती है कि विष्णुस्वामी एक ब्राह्मण–पुत्र थे और शास्त्रों में पारंगत थे तथा कठिन तपस्या द्वारा उन्हें भगवान विष्णु के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। विष्णु स्वामी के रचे कोई भी ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन विष्णु स्वामी ने किया, इस विषय में भी मतभेद हैं, किन्तु डॉ. भण्डारकर ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "विष्णु स्वामी का दार्शनिक सिद्धांत वही था जो वल्लभाचार्य का है।"[१०] क्योंकि शोध का विषय वल्लभाचार्य से सम्बन्धित है (पुष्टिमार्ग) शुद्धाद्वैत दर्शन का विस्तृत वर्णन मैं आगे के पृष्ठों में प्रस्तुत करुंगी।

भक्तों में ऐसी मान्यता है कि विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय के प्रर्वतक भगवान शंकर हैं इसी कारण इसे 'रुद्र सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। भक्तों में ऐसी मान्यता भी है कि शंकर भगवान ने इसका सर्व प्रथम उपदेश बालखिल्य ऋषियों को दिया था जो ज्ञान कालान्तर में विष्णु स्वामी को प्राप्त हुआ।

विष्णु स्वामी की शिष्य परम्परा में ज्ञानदेव, नामदेव और त्रिलोचन के नाम उल्लेखनीय हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रंथों में वल्लभाचार्य को विष्णु स्वामी का मतानुवर्ती

बताया गया है। इस सम्प्रदाय के उपास्य देव 'श्री नृसिंह' हैं, जो श्री कृष्ण के ही अवतार माने जाते हैं। विद्यानगर के शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर वल्लभाचार्य जी ने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसी समय विष्णु स्वामी सम्प्रदाय की गद्दी पर बिराजमान बिल्वमंगल नामक आचार्य ने वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी का सुयोग उत्तराधिकारी मान कर उन्हें उस गद्दी पर प्रतिष्ठित किया था। कालान्तर में वल्लभाचार्य जी ने विष्णुस्वामी के दार्शनिक सिद्धांत और रुद्र सम्प्रदाय को विकसित कर नवीन रूप प्रदान किया था। हालाँकि वल्लभाचार्य जी का सम्प्रदाय विष्णुस्वामी से पृथक है, इसका वर्णन मैं वल्लभाचार्य जी के प्रसंग में प्रस्तुत करुंगी।

४. माधवाचार्य ::

माधवाचार्य का जन्म दक्षिण भारत में बेलिग्राम में हुआ था विद्वानों ने इनका समय वि. सं. १२९५ माना है। इन्हों ने छोटी–सी आयु में ही संन्यास ग्रहण कर, वेदांत का अध्ययन किसी अच्युतपक्षाचार्य नामक संन्यासी से प्राप्त किया था। माधवाचार्य ने भी अद्वैत के विरुद्ध अपने द्वैतवाद की स्थापना की थी । अपने सिद्धान्त का प्रचार–प्रसार करने के लिए इन्होंने भारतभर की यात्राएँ की थी। माधवाचार्य ने सुब्रह्माण्य, मध्यतल और उड़ीपि में तीन शालीग्राम की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भी की थी। इन्होंने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्यों की रचना की थी। इसके अलावा गीता तात्पर्य निर्णय, न्याय विवरण, तंत्र सार संग्रह आदि कई और भी उल्लेखनीय ग्रंथों की रचनाएँ की थीं।

माधवाचार्य के द्वैताद्वैत सिद्धांत के अनुसार समस्त पदार्थ परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परब्रह्म और जीव दोनों ही सत्य हैं, अनादि हैं, किन्तु दोनों में भेद है। परब्रह्म स्वतंत्र सत्ता है और जीव परतंत्र, परमात्मा के आधीन है। इस सिद्धांत में पाँच मुख्य भेद हैं–

१. ईश्वर का जीव से नित्य भेद है,
२. ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है,
३. जीव का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है,
४. एक जीव का दूसरे जीव से नित्य भेद है,
५. एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से नित्य भेद है।

इस सिद्धांत को पंच भेद सिद्धांत कहते हैं। श्री विष्णु ही जीव के सर्वस्व हैं, इनकी भक्ति कर जीव वैकुंठ को प्राप्त कर सकता है।

भक्तों में मान्यता है कि माधवाचार्य के सम्प्रदाय का आरम्भ ब्रह्मा जी ने किया था, अतः इसे 'ब्रह्म सम्प्रदाय' कहते हैं। इस सम्प्रदाय में दार्शनिक सिद्धांत की अपेक्षा श्रीमद् भागवत के भक्ति तत्व पर अधिक बल दिया गया है। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र दक्षिण देश का उड़ीपि नामक स्थान है। विद्वानों के मतानुसार चैतन्य महाप्रभु को इसी सम्प्रदाय की शाखा का मतानुयायी माना जाता है।

उपरोक्त चारों सम्प्रदायों से प्रभावित होकर लगभग **१४** वीं से **१६** वीं शती के अन्त तक अन्य पृथक – पृथक वैष्णव सम्प्रदायों का निर्माण हुआ, जिनकी नींव तो उपरोक्त चारों वैष्णव सम्प्रदायों पर आधारित कहा जा सकता है, जिनमें मुख्य है –

२. प्रमुख वैष्णव सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय :-

	सम्प्रदाय		दर्शन		आचार्य
१.	रामानंदी सम्प्रदाय	–	विशिष्टाद्वैतवाद	–	रामानंद
२.	वल्लभ सम्प्रदाय (पुष्टिमार्ग)	–	शुद्धाद्वैतवाद	–	वल्लभाचार्य
३.	चैतन्य सम्प्रदाय	–	अचिन्त्य भेदा भेदवाद	–	चैतन्य महाप्रभु
४.	सखी सम्प्रदाय	–	– –	–	स्वामी हरिदास
५.	राधा वल्लभ सम्प्रदाय	–	– –	–	हित हरिवंश

अब मैं इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करती हूँ –

१. रामानंद ::

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रामानंद रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा के हैं, अपने ग्रंथ 'श्री रामार्चन पद्धति' में रामानंद ने अपनी पूरी गुरू परम्परा दी है जिसके अनुसार वे १४ वीं पीढ़ी में आते हैं। रामानंद का भी प्रामाणिक वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इनका समय वि.सं. १४६७ से १५६७ तक का माना है। दूसरी ओर इनके भक्तों ने इनका समय वि.सं. १३५६ से १४६७ तक का माना है।

मुख्यतः रामानंद का कोई भी यथार्थ वृत अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। वैष्णवचार्यों में केवल रामानंद जी ही उत्तर भारतीय धर्माचार्य थे। रामानंद जी ने अपने समय की परिस्थितियों के अनुरूप विष्णु के अवतार 'श्री राम' को अपना आराध्य देव मानकर उनकी उपासना का क्रम चलाया। रामानंद ने भी रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत को माना है, जिसके अनुसार दास्य भाव की भक्ति की महत्ता को स्वीकारा गया है; किन्तु इनकी उपासना विधि में अन्तर है, यहाँ भगवान राम के नाम का ही जाप किया जाता है। इसी कारण इसे 'रामावत' अथवा 'रामानंदी सम्प्रदाय' कहते हैं। रामानंद के रचे दो ग्रंथ मिलते हैं – वैष्णव मताब्ज भास्कर और श्री रामार्चन पद्धति। रामानंद ने जाति–पाँति, ऊँच–नीच आदि भेदों को भूल कर सभी प्राणियों के लिए अपने सगुण व सुलभ भक्ति मार्ग के द्वार खोल दिए थे। रामानंद की शिष्य परम्परा दो भागों में विभक्त है – वैरागी और संत, जो क्रमशः सगुण और निर्गुण भक्ति को माननेवाले हैं। वैरागी समुदाय वाले सगुण भक्ति के रूप श्री राम की सेवा करते हैं जिसके प्रमुख आचार्य अनंतानंद थे। जबकि संत समुदाय ने श्री राम की निर्गुण निराकार भक्ति को अपनाया है, जिनमें प्रमुख रूप से कबीर, रैदास के नाम उल्लेखनीय हैं।

'जाति–पाँति पूछे नहि कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।।'

भक्तों में मान्यता है कि उपरोक्त उक्ति रामानंद द्वारा प्रचलित की गई है।

२. चैतन्य महाप्रभु ::

विद्वानों ने चैतन्य महाप्रभु का जन्म वि.सं. १५४२ में बंगाल के नवद्वीप नामक स्थान पर हुआ माना हैं। वे एक बंगाली ब्राह्मण थे। छोटी आयु में ही इन्होंने समस्त विद्या प्राप्त कर ली थी। इसके पश्चात् का पूरा जीवन चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रचार–प्रसार में व्यतीत कर दिया था। चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णोपासना करना ही जीव का परम उद्देश्य माना है। इसी कारण इतने बड़े विद्वान होते हुए भी चैतन्य महाप्रभु ने न किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया, न ही कोई शास्त्रोक्त ग्रंथ की रचना

की। वे तो संर्कितन और नाम–जप द्वारा अपने प्रभु में लीन रहनेवालों में से थे। चैतन्य महाप्रभु ने माधव मतानुयायी होने के कारण माध्वाचार्य के ब्रह्म सूत्र भाष्य को अपने मत में स्वीकार किया था। इसके अलावा महाप्रभु चैतन्य श्रीमद् भागवत् को ही सर्वोपरि सिद्धांत ग्रंथ मानते थे।

कालान्तर में चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने उनकी शिक्षाओं के आधार पर स्वतंत्र दार्शनिक सिद्धांत की रचना की, जिसे 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' कहते हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण ही सर्वशक्तिमान हैं, उनकी शक्ति के रूप में ही जीव और जगत् विद्यमान है। ब्रह्म का जीव और जगत् से सम्बन्ध वैसा ही है जैसा अग्नि और दाहिका शक्ति का। इसी प्रकार ब्रह्म अस्तित्व की दृष्टि से जीव और जगत् से अभेद है और कार्य की दृष्टि से भेद है। यही भेदाभेद सम्बन्ध है, जो नित्य भी है और सत्य भी है, इसी कारण यह अचिन्त्य है अर्थात् मानवीय चिन्तन से ऊपर है। इसे ही 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' कहते हैं। सामान्य जन मानस के लिए इस प्रपंच को समझना बड़ा कठिन है।

चैतन्य महाप्रभु के मत को 'चैतन्य सम्प्रदाय' कहते हैं। इस सम्प्रदाय का जन्म तो बंगाल और उड़ीसा में हुआ था, किन्तु कालान्तर में यह बृज में, वृंदावन में अपना एक विशिष्ट स्थान बना चुका है। इस सम्प्रदाय के उपास्य देव भगवान 'श्री कृष्ण' हैं, वृंदावन उनका परम धाम है और ब्रज गोपिकाओं की विशुद्ध प्रेमोपासना ही इस सम्प्रदाय का आदर्श है। भावावेश में आकर प्रभु की लीला का स्मरण करते हुए, संकीर्तन के साथ, प्रभु में लीन हो जाना इस सम्प्रदाय की विशेषता है। चैतन्य सम्प्रदाय का विशाल साहित्य जो हमें प्राप्त होता है वह चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों द्वारा रचित है, जिनमें मुख्य रूप से रूप सनातन, जीव गोस्वामी और कृष्णदास कविराज के नाम उल्लेखनीय हैं।

३. स्वामी हरिदास ::

हरिदास जी का भी प्रामाणिक जीवन वृत्तांत प्राप्त नहीं है। मोटे तौर पर विद्वानों ने इन्हें अकबर का समकालीन माना है। इसका मुख्य कारण उनके शिष्य तानसेन हैं जो अकबर दरबार के प्रमुख संगीतज्ञ थे। वैसे अकबर से भेंट और तानसेन का शिष्यत्व इन

दोनों किवदंती का कोई प्रामाणिक वृत्त अभी तक नहीं मिला। स्वामी हरिदास वृदांवन में निधुबन नामक स्थान पर रहते थे और अपनी संगीत साधना और भक्ति में लीन रहा करते थे। स्वामी हरिदास ब्रज की सुप्रसिद्ध ध्रुपद–धमार शैली में अपने पद गाया करते थे। सिद्धांत के पद और केलिमाल में उनके पद संकलित मिलते हैं। स्वामी हरिदास सखी भाव से अपने 'श्री श्यामकुंज बिहारी' की भक्ति करते थे, इसी कारण उनका सम्प्रदाय 'सखी सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय में मुख्य रूप से प्रभु की सखी भाव से विशुद्ध प्रेमोपासना की जाती है। स्वामी जी एक विरक्त संत थे इसी कारण उनकी भक्ति में वैराग्य और रसिकता का अद्‌भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। भक्तों में मान्यता है कि वृंदावन के बिहारी मंदिर का प्राकट्य स्वामी हरिदास ने किया था। स्वामी हरिदास को सम्प्रदाय में ललिता सखी के रूप में भी माना जाता है। स्वामी हरिदास जी ने किसी भी दर्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया और ना ही किसी ग्रंथ की रचना की है। स्वामी जी के समस्त अनुयायी दो वर्गों में विभाजित हैं – प्रथम वर्ग वो जो वृंदावन के टट्टी संस्थान से सम्बंधित विरक्त संतों का है और दूसरा वर्ग वो जो बिहारी जी के मंदिर के पुजारी का गृहस्थ गोस्वामी गणों का है। स्वामी हरिदास के समकालीन आचार्यों में हित हरिवंश, हरिराम व्यास और प्रबोधानंद के नाम उल्लेखनीय हैं।

४. हित हरिवंश ::

विद्वानों के मतानुसार हित हरिवंश का जन्म सहारनपुर जिले के देबबन नामक गाँव में एक गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनका समय वि.सं. १५५९ का माना जाता है। हित हरिवंश ने संस्कृत भाषा में 'राधा सुधानिधि' और 'यमुनाष्टक' तथा ब्रज भाषा में 'हित चौरासी', 'स्फुट वाणी' और 'श्री मुखपत्री' नामक ग्रंथों की रचना की है। हित हरिवंश जी का सम्प्रदाय 'राधा–वल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। इसमें राधा–कृष्ण की प्रेम भक्ति की उपासना की जाती है। हित हरिवंश ने अपने साम्प्रदायिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है – ''सृष्टि का रचयिता कौन है, कौन इसे धारण करता है और कौन इसका संहार करता है – इन निरर्थक बातों पर विचार करने के लिए हमें अवकाश नहीं

है। हमारा प्रयोजन तो श्री राधा कृष्ण की केलिक्रीड़ाओं वाली कुँज विथियों की उपासना करना है।''[११] हित हरिवंश जी ने अपने भक्ति सिद्धांत की रूप रेखा इस प्रकार बताई है–

''सबसो हित, निष्काम मति, वृंदावन विश्राम।
श्री राधा वल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ।। १ ।।
तनहिं राखि सत्संग में, मनहिं प्रेमरस भेव।
सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव ।। २ ।।''

हित हरिवंश के समकालीन आचार्यों में स्वामी हरिदास, हरिराम व्यास और प्रबोधानंद जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

५. महाप्रभु वल्लभाचार्य ::

वंश : वल्लभाचार्य के पूर्वज दक्षिण भारत के आंधप्रदेश के काँकरवाड़ नामक गाँव के निवासी थे। ये कृष्ण यजुर्वेद की तैतिरीय शाखा के तैलंग ब्राह्मण थे, इनका गोत्र भारद्वाज था। वल्लभाचार्य का वंश·'सोमयाझी' कहलाता था। वल्लभाचार्य के वंशज यज्ञ नारायण भट्ट ने ३२ सोमयज्ञ किए थे, इनके बाद गंगाधर भट्ट ने २८ सोमयज्ञ किए थे, इनके पश्चात् गणपति भट्ट ने ३० सोमयज्ञ किए थे, इनके बाद वल्लभ भट्ट तथा वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट ने ५–५ सोमयज्ञ किए थे। इस प्रकार वल्लभ के वंशजों ने सौ सोमयज्ञ पूर्ण किए थे, जिसके पश्चात् यह दैवी वाणी सुनाई पड़ी कि – 'वत्स लक्ष्मण भट्ट ! तुमने सौ यज्ञ करके अपने पिता के प्रपितामह का संकल्प पूर्ण कर दिया है इसलिये में तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ और तुम्हारें उन पूर्वजों को दिए हुए व्रत को सफल करने के लिए तथा अपने भक्त के कल्याण के लिए तुम्हारी पत्नी के पुण्य गर्भ से शीध्र ही अवतार धारण करुँगा।'[१२] कुछ समय पश्चात् लक्ष्मण भट्ट जी तीर्थ यात्रा करते हुए काशी पहुँचे। वहाँ इन्होंने हनुमान घाट पर स्थायी निवास किया तथा अपना धार्मिक कार्य सम्पन्न किया। एक दिन वहाँ दिल्ली के तत्कालीन बादशाह बहलोल लोदी द्वारा आक्रमण के भय की चर्चा से लक्ष्मण भट्ट पुनः अपने देश दक्षिण की ओर चल पड़े। तभी रास्ते के मध्य, मध्यप्रदेश स्थित चम्पारण नामक निर्जन वन को पार करते समय पत्नी इल्लमागारु को

प्रसव–पीड़ा होने लगी। अतः रात्रि के समय माता इल्लमागारु ने उस निर्जन वन में एक विशाल शमी वृक्ष के नीचे एक बालक को जन्म दिया। माता–पिता ने देखा बालक सर्वथा संज्ञाहीन है, अतः उन्होंने उसे मृत समझा और वहीं छोड़कर आगे बढ़ गये। दूसरे दिन प्रातःकाल सहयात्रियों से सूचना मिली के काशी पर कोई आक्रमण नहीं होने वाला। अतः वे पुनः काशी की ओर चल पड़े। जब (माता–पिता) लक्ष्मण भट्ट जी पुनः उस स्थान पर पहुँचे तो नेत्र विस्मय से भर उठे, क्योंकि मृत बालक माँ धरती की गोद में आनन्दपूर्वक लेटा हुआ था और उसके चारों ओर अग्नि प्रज्वलित थी। यह देखकर माता इल्लमागारु ने दौड़ कर अपने पुत्र कों हृदय से लगा लिया। विद्वानों का मत है कि यही बालक आगे चल कर जगतगुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

जन्म व शिक्षा : वल्लभाचार्य का जन्म विक्रम संवत १५३५ की वैशाख कृष्ण एकादशी, रविवार को हुआ था।[१३] वल्लभाचार्य का बाल्य काल काशी में ही व्यतीत हुआ था, जहाँ उनकी शिक्षा भी सम्पन्न हुई। वल्लभाचार्य ने छोटी सी आयु में ही वेद, वेदांत, उपनिषदों, पुराणों आदि कई धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था और काशी में ही वल्लभाचार्य ने कई विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन पर विजय प्राप्त की थी।

यात्राएँ : वल्लभाचार्य ने पिता के गोलोकवास के पश्चात् माता को मामा के घर विद्यानगर में छोड़ कर अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु माता की आज्ञा से भारत भ्रमण का आरम्भ किया। वल्लभाचार्य ने तीन बार पूरे भारत की यात्राएँ की । इन यात्राओं को पुष्टि सम्प्रदाय में 'वल्लभ दिग्विजय' अथवा 'पृथ्वी परिक्रमा' के नाम से जाना जाता है। इन यात्राओं में वल्लभाचार्य ने मायावाद का खण्डन किया तथा अपने भक्तिमार्ग–पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन किया। इन यात्राओं की मुख्य घटनाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–[१४]

विद्यानगर के राजा कृष्णदेव की धर्मसभा में शास्त्रार्थ कर सभी मायावादियों और अन्य विद्वानों को निरूतर कर अपने दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत का प्रतिष्ठान कर, भक्तिमार्ग – वैष्णव पक्ष का ऐसा समर्थन किया कि सभी को आपके सामने झुकना पड़ा। इस विजय पर राजा कृष्णदेव ने 'कनकाभिषेक' कर के, 'आचार्य अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगत् गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु' की पदवी से सम्मानित भी किया।

एक बार की अपनी यात्रा में वल्लभाचार्य जगन्नथपुरी पहुँचे तो वहाँ विद्वानों में शास्त्रार्थ हो रहा था। विषय था – मुख्य शास्त्र कौन सा है? मुख्य देव कौन है? मुख्य मंत्र क्या है? मुख्य कर्म क्या है? वल्लभाचार्य ने भी अपना मत प्रस्तुत किया किन्तु कुछ विद्वानों को सन्तुष्टि नहीं हुई, अन्त में कागज–कलम–दवात मंदिर में रख कर मंदिर के पट बन्द कर दिए गए। जब थोड़ी देर बाद जगन्नाथ जी के पट खोले गए तब कागज पर निम्नलिखित श्लोक लिखा हुआ था–

'एकं शास्त्र देवकी पुत्र गींत, ऐको देवो देवकी पुत्र एव।
मंत्रोड़प्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येक तस्य देवस्य सेव।।'[१५]

अर्थात् देवकी पुत्र भगवान श्री कृष्ण द्वारा प्रणयित श्रीमद् भागवद गीता एक मात्र शास्त्र है, देवकी पुत्र श्रीकृष्ण ही एकं मात्र देव हैं, उन प्रभु का नाम ही एक मात्र मंत्र है, और उनकी सेवा करना ही एक मात्र कर्म है।

इसके पश्चात् यात्रा करते हुए मथुरा आकर विश्राम घाट की यंत्रबाधा को भी दूर किया तथा वहाँ से गोकुल में आकर कई स्थलों को भागवत् पारायण कर समृद्ध किया, जहाँ भगवान श्री कृष्ण ने लीलाएँ की थी।

अपनी यात्रा के दौरान ही पंढरपुर में श्री विठ्ठलेश प्रभु के दर्शन कर उनकी आज्ञा मान कर वल्लभाचार्य ने विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए।

श्रीनाथजी की सेवा : अपनी ब्रज यात्रा में गिरिराज पर्वत पर प्रकट हुए श्री गोवर्धननाथ जी को 'श्रीनाथजी' के रूप में प्रकट कर, छोटे से मंदिर में प्रतिष्ठित किया तथा श्रीनाथजी की सेवा व्यवस्था का कार्य भी सम्पन्न किया। उसी समय एक सेठ पूरनमल खत्री ने वल्लभाचार्य की आज्ञानुसार श्रीनाथजी के लिए भव्य मंदिर का निर्माण कार्य शरू किया तथा श्रीनाथजी की सेवा के लिए बंगाली ब्राह्मणों की नियुक्ति की।

गृहस्थाश्रम व संतति : जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वल्लभाचार्य ने श्री विठ्ठलेश प्रभु की आज्ञा से विवाह करना स्वीकार किया तथा काशी आकर सजातीय ब्राह्मण कन्या महालक्ष्मी का पाणिग्रहण किया। वल्लभाचार्य के दो पुत्र थे – गोपीनाथ जी तथा विठ्ठलनाथ जी।

तिरोधान : वल्लभाचार्य ने विक्रम संवत १५८७ की आषाढ़ शुक्ल तीन के दिन, हनुमान घाट पर, गंगा जी के बीच धारा में जल समाधि ले ली। वल्लभाचार्य ५२ वर्ष तक पृथ्वी पर रहे तथा अपने भक्तिमार्ग का प्रचार कर जन साधारण की उन्नति करते रहे।

शिष्य–सेवक : वल्लभाचार्य के मुख्य ८४ सेवक हैं, जिनका वर्णन चौरासी वैष्णवन की वार्ता में मिलता है। इनके सेवक किसी भी जाति या वर्ण के थे अर्थात् किसी प्रकार के भेदभाव बिना वल्लभाचार्य ने सभी को भगवान की सेवा में प्रस्तुत कर आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। स्त्री वर्ग तथा शूद्र जाति पर इनकी विशेष कृपा थी।

बैठकें : वल्लभाचार्य ने अपनी भारत यात्राओं के दौरान जहाँ–जहाँ पर श्रीमद् भागवत का पारायण किया उस जगह को पुष्टिमार्ग में 'महाप्रभु जी की बैठक' के नाम से जाना जाता है। वल्लभाचार्य की मुख्य ८४ बैठकें हैं।

ग्रन्थ रचना : वल्लभाचार्य ने कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें अपने शुद्धाद्वैत दर्शन तथा पुष्टि भक्ति मार्ग का वर्णन प्रस्तुत किया। मुख्य ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है– [१६]

+ अणुभाष्य – यह श्री बादरायण व्यास के ब्राह्म सूत्रों पर लिखा भाष्य है। इस ग्रन्थ में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत दर्शन की पुष्टि की है।
+ सुबोधिनी – यह ग्रन्थ श्रीमद् भागवत पर लिखी गई टीका है।
+ तत्वार्थदीप निबन्ध – इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं – शास्त्रार्थ प्रकरण, सर्व निर्णय प्रकरण, भागवतार्थ प्रकरण।
+ पूर्व मीमांसा भाष्य अथवा जैमिनि सूत्र भाष्य।
+ पत्रावलम्बन
+ त्रिविध नामवली
+ शिक्षा श्लोकी
+ न्यासा देश
+ पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम
+ गायत्री भाष्य
+ भागवत सूक्ष्म टीका
+ भागवत पीठिका
+ भागवत दशम स्कन्ध अनुक्रमणिका
+ विविध अष्टक (मधुराष्टक, कृष्णाष्टक आदि)
+ प्रेमामृत
+ सेवा फल विवरण

+ षोडश ग्रन्थ – श्री यमुनाष्टकम्, बालबोध, सिद्धान्त मुक्तावली, पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद, सिद्धान्त रहस्यम्, नवरत्नम्, अन्तः करण प्रबोध, विवेक धैर्याश्रय, निरूपणम्, श्री कृष्णाश्रयः, चतुःश्लोकी, भक्तिवर्धिनी, जलभेद, पंचपद्य, संन्यासनिर्णय, निरोधलक्षणम्, सेवा फलम्।

पुष्टि सम्प्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य के सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। किन्तु वल्लभाचार्य ने अपने व्याख्यान और प्रचार कार्य में ब्रज भाषा का प्रयोग किया था। वल्लभाचार्य को ब्रज भाषा इसलिए भी प्रिय थी क्योंकि यह उनके इष्टदेव भगवान श्री कृष्ण की लीला भूमि से सम्बंधित थी। वे इसे 'पुरूषोत्तम भाषा' भी कहते थे। वल्लभाचार्य ने स्वयम् तो ब्रज भाषा में ग्रन्थ रचना नहीं की, परन्तु अपने सम्प्रदाय के सेवकों तथा समकालीन अनेक व्यक्तियों को श्री कृष्ण भगवान की ब्रज भाषा में रचना करने की प्रेरणा दी।[१७]

अतः हम कह सकते हैं कि वल्लभाचार्य जी ने ब्रज भाषा की उन्नति का कार्य अवश्य आरम्भ किया।

वल्लभाचार्य की सामाजिक देन

वल्लभाचार्य ने अपने ५२ वर्ष के कार्य काल में समस्त भारत का आध्यात्मिक और सामाजिक मार्गदर्शन करने का कार्य किया। वल्लभाचार्य का युग राजनैतिक दृष्टि से धार्मिक भावनाओं के अनुकूल नहीं था, देश विदेशी आक्रान्ताओं से त्रस्त था। सर्वत्र अशान्ति थी। इसका वर्णन वल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय ग्रन्थ' में किया है। यदि भक्तिकाल के भक्त साधकों, संतों और आचार्यों के जीवन कार्य को देखा जाए तो उनकी जीवन पद्धति व उपदेशों से सर्वत्र लोक मंगल के कार्य हुए प्रतीत होते हैं। इन महानुभावों के आचरण तथा उपदेश युगों–युगों तक जन साधरण व समाज को प्रभावित करते रहेंगे। वल्लभाचार्य ने भारत भ्रमण कर अपने उपदेशों का, भक्ति मार्ग का प्रचार कर अपार जनसमूह को सरल व सादा जीवन व्यतीत करने को कहा। वल्लभाचार्य ने अपने पुष्टिमार्ग को समन्वयवादी मार्ग कहा है। पुष्टि मार्ग में सभी देवों, अवतारों की स्तुति श्रद्धाभाव से

की जाती है। अपने समय की कुरीतियों को देखते हुए वल्लभाचार्य ने व्यक्ति के आचरण की पवित्रता को ही भगवत् भक्ति का मार्ग बनाया।

वल्लभाचार्य ने परिवार और समाज को आध्यात्मिक उन्नति में बाधक नहीं माना। अतः उन्होंने पारिवारिक समाज सापेक्ष भगवत् सेवा का प्रचार–प्रसार किया। वल्लभाचार्य ने सद्गृहस्थ के रूप में सभी वर्ग, वर्ण, जाति, कुल आदि की मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए सबके कल्याण के लिए, सबकी सांसारिक पीड़ा को दूर करने के लिए तीन बार देशाटन किया तथा पारिवारिक भगवत् सेवा के रूप में साधारण जनता को गृहस्थ धर्म का स्वरूप समझाकर पाखण्डरहित, दम्भरहित साधारण जीवनयापन करना सिखाया। सभी मनुष्य को समभाव से देखना ही सर्वोच्च धर्म है जो मनुष्यों के बीच किसी प्रकार की ऊँच–नीच की भावना की दीवार खड़ी नहीं होने देता। मनुष्य मात्र को सांसारिक भोग्य पदार्थों का प्रभु प्रसाद के रुप में ग्रहण कर उपभोग करना चाहिए। इसके लिए वल्लभाचार्य ने त्रिसूत्री योजना बनाई–'प्रत्येक व्यक्ति को पूरी शक्ति से स्वधर्म का आचरण करना चाहिए, विधर्म से बचना चाहिए और संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए'–इन तीन सिद्धान्तों से समाज विनाश से बच सकता है, अतः इन तीनों को कदापि नहीं छोड़ना चाहिए।[१८]

वल्लभाचार्य ने समाज के दलित शोषित वर्ग की दुर्दशा देखी थी। स्त्रियों की दुर्दशा, शूद्रों का नरकीय जीवन और गरीबों की हताशा से उनका गहरा परिचय था। इन सभी के लिए वल्लभाचार्य ने कहा–'ये भक्ताः शास्त्ररहिता, स्त्री शूद्रों द्विज बन्धवः तेषामुद्धारकः कृष्णः।' अर्थात् जो शास्त्रज्ञान से शून्य और शास्त्रविधि से रहित हैं ऐसे स्त्री, शूद्र और पतित ब्राह्मणों के उद्धारक श्रीकृष्ण हैं। स्त्री जाति को सम्मान देने हेतु वल्लभ ने ब्रजांगनाओं को अपना गुरु पद दिया।

वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के द्वार सभी वर्ण, जाति, वर्ग के व्यक्तियों के लिए खोल दिए थे। उनके शिष्य सेवकों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, भाट, कायस्थ, मुसलमान, नाई, कुंभार, लुहार, सुतार, मोची, नाई, भंगी, भिलाई, कुनबी, बढ़ई से लेकर गृह त्यागी संन्यासी, वेदपाठी ब्राह्मण सभी प्रकार के व्यक्ति थे। तभी तो 'श्रीनाथजी' की

सेवा का सर्व प्रथम अधिकार रामदास चौहान को सौंपा था। श्रीनाथजी के प्रथम कीर्तनकार कुम्भनदास थे तथा श्रीनाथजी मंदिर के प्रथम व्यवस्थापक कृष्णदास थे। पुष्टिमार्ग की भगवत् सेवा का विधान ही वल्लभाचार्य ने ऐसा बनाया है कि इसमें सभी को दीक्षित होने की छूट है। वर्ण, जाति–पाँति, आश्रम, वय, गुण, देशी–विदेशी का कोई भी बन्धन नहीं है। विश्व का कोई भी प्राणी इस भगवत् सेवा का लाभ लेकर अपना जीवन सन्तुष्ट कर सकता है।

तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों का और अन्ध–विश्वासों का भी वल्लभाचार्य ने विरोध किया। भूत–प्रेत आदि की पूजा, इनका भय, डाकोतियों की भविष्य वाणी आदि सब कुछ छलावा है। जीवन की सार्थकता भगवद् सेवा में है। जगन्नाथ जी के रथ के पहिये के नीचे आकर मर जाना, किसी तीर्थ स्थान में जाकर मरना जैसे अन्धविश्वासों का भी प्रबल विरोध किया। सती प्रथा के नाम पर स्त्री पर हो रहे भीषण अत्याचार के विरुद्ध भी वल्लभाचार्य ने आवाज़ उठाई। अपने शिष्य राणा व्यास के कहने पर एक स्त्री ने सती बनने से इन्कार कर दिया तथा बाद में वह पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गई। तात्पर्य समाज में व्याप्त असुरों [१९] का सामना कर आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व ही वल्लभाचार्य ने जीव–दया, अहिंसा, संयमपूर्ण जीवन, प्रेम, समभावना जैसे तत्वों का समाज में प्रचार कर उसे व्यक्ति के नित्य जीवन से जोड़ने का सफल प्रयोग किया।

वल्लभाचार्य ने घर में मंदिर बनाकर पारिवारिक सेवा पर बल दिया। वल्लभाचार्य ने व्यक्ति और समाज को अपना सर्वस्व परमात्मा श्री कृष्ण के चरणों में समर्पित करने को कहा तथा कहा कि वह परब्रह्म परमात्मा स्वयं तुम्हारी रक्षा करेंगे। वल्लभाचार्य दार्शनिक व धार्मिक गुरु थे, किन्तु आपने सामाजिक चेतना के साथ धर्म को जोड़कर समाज के लिए एक कल्याणकारी मार्ग उपस्थित किया, जिसके लिए समाज–व्यक्ति–देश हमेशा आपके ऋणी रहेंगें।

वल्लभाचार्य के कार्यों का तत्कालीन समाज पर प्रभाव हम '८४ वैष्णवन की वार्ता' में देख सकते हैं। अन्तः हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों और समालोचनाओं में

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मत प्रायः स्वीकृत किया जाता रहा है कि भक्ति सम्प्रदाय के कवि और आचार्य लोक–रंजन का कार्य करते रहे हैं।[२०]

******

:: संदर्भ सूची ::

१. जैसे–इन्द्र, वरुण, सुर्य आदि;
ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, लेखक : प्रभु दयाल मीत्तल–४

२. ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास–२, लेखक : प्रभु दयाल मीतल

३. ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास–१३८, लेखक : प्रभु दयाल मीतल

४. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (५)– २२;२३, नागरी प्रचारिणी सभा

५. 'उत्पन्न द्रविडेचाहं, कर्णाटके वृद्धिंगता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे,गुर्जरो जीर्णतांगता।।'
ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास– १३९, लेखक : प्रभु दयाल मीत्तल

६. 'भक्ति द्राविडे ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट करी कबीर ने, सात द्वीप नौं खंड।।'
ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास – १३९, लेखक : प्रभु दयाल मीत्तल

७. + भागवत सम्प्रदाय – १८६ लेखक : आचार्य बलदेव उपाध्याय
+ ब्रज के धर्म सम्प्रदाय का इतिहास–१४२, लेखक : प्रभु दयाल मीतल

८. ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास–१४४, लेखक : प्रभु दयाल मीतल

९. ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास–१४८, लेखक : प्रभु दयाल मीतल

१०. अष्टछाप – परिचय – ५०, लेखक : प्रभु दयाल मीतल

११. ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास – ३८२, लेखक : प्रभु दयाल मीतल

१२. + ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास – ३८२, लेखक : प्रभु दयाल मीतल
+ महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य और पुष्टिमार्ग–१०, लेखक : सीताराम चतुर्वेदी

१३. + ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास – २१५, लेखक : प्रभु दयालु मीतल
+ अष्टछाप परिचय – ४, लेखक : प्रभु दयाल मीतल
+ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय – ७०, लेखक : डॉ. दीन दयाल गुप्त
+ श्रीमद् वल्लभाचार्य : व्यक्तित्व, सिद्धान्त और संदेश (।)-२,
लेखक : डॉ. गजानन शर्मा

+ हीरक जयन्ती ग्रन्थ–४२, साहित्य मण्डल, नाथद्वारा

१४. महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता (विस्तृत विवरण हेतु)

१५. + हीरक जयन्ती ग्रन्थ – ४२, साहित्य मण्डल, नाथद्वारा
+ श्रीमद् वल्लभाचार्य : व्यक्तित्व, सिद्धान्त और संदेश (।)–५,
लेखक : डॉ. गजानन शर्मा

१६. 'आचार्य वल्लभ ने षोडश ग्रंथों की रचना की जिनमें छह ग्रंथ ऐसे हैं जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक उपयोगिता के हैं। उनकी सार्वभौम प्रासंगिकता असंदिग्ध हैं। इनमें 'चतुःश्लोकी' तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन ग्रंथों में न तो कहीं संकीर्ण साम्प्रदायिकता है और न कही कर्मकांड आदि पर बल दिया गया है। ये ग्रंथ संसार के झंझटों से मुक्ति पाने और आत्मबल संचय करने के लिए देशकाल की सीमा में नही समाते। आत्म निर्भरता, कर्तव्य परायणता एवं सम्यक् प्रकार से जीवन साधना के लिए इनमें जो उपदेश और उद्बोधन अंकित हैं वे किसी धर्म, सम्प्रदाय, जाति या देश से बाधित नहीं हैं। ये ग्रंथ वास्तव में लोकोपकारी एवं पथ प्रदर्शक ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों के आधार पर हम आचार्य जी को उस काल में एक महान विभूति के रूप में देख सकते हैं।'–
गोस्वामी अभिन्दन ग्रंथ (श्री वल्लभाचार्य की सामाजिक दृष्टि–२४२)
लेखक : डॉ. विजयेन्द्र स्नातक

१७. जैसे अष्टछाप के प्रथम चार कवि

१८.'स्व धर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च्य निर्त्तनम्।
इन्द्रियाश्व विनिग्रहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयस्।'
श्रीमद् वल्लभाचार्य : व्यक्तित्व, सिद्धान्त और संदेश (।।)
(वल्लभाचार्य की सामाजिक चेतना–१६८) लेखक : डॉ. गजानन शर्मा

१९. अन्ध विश्वास, कुरीतियाँ, सती प्रथा जैसें असुर।

२०. गोस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ – (श्री वल्लभाचार्य की सामाजिक दृष्टि – २४८)
लेखक : डॉ. विजयेन्द्र स्नातक

* * * *